(८) प्रत्यभिज्ञा-दर्शनम्

स्वच्छन्दतः सृजति संसृतिमीश्वरोऽयं,
भावान्विभासयति चात्मनि बिम्बरूपान् ।
अद्वैतरूपविदितं नवतत्त्वमत्र
साक्षात्कृतिं दिशति तत्परमं समीहे ॥—ऋषिः

(१. प्रत्यभिज्ञा-दर्शन का स्वरूप)

अत्रापेक्षाविहीनानां जडानां कारणत्वं दुष्यतीत्यपरितुष्यन्तो, मतान्तरमन्विष्यन्तः, परमेश्वरेच्छावशादेव जगन्निर्माणं परिघुष्यन्तः, स्वसंवेदनोपपत्त्या आगमसिद्धप्रत्यगात्मतादात्म्ये नानाविधमानमेयादिभेदाभेदशालिपरमेश्वरोऽनन्यमुखप्रेक्षित्वलक्षणस्वातन्त्र्यभाक् स्वात्मदर्पणे भावान्प्रतिबिम्बवद् अवभासयतीति भणन्तो, बाह्याभ्यन्तरचर्याप्राणायामादिक्लेशप्रयासकलापवैधुर्येण सर्वसुलभमभिनवं प्रत्यभिज्ञामात्रं परापरसिद्ध्युपायमभ्युपगच्छन्तः, परे माहेश्वराः प्रत्यभिज्ञाशास्त्रमभ्यस्यन्ति ।

महेश्वर-संप्रदाय के ही कुछ दूसरे दार्शनिक हैं जो उपर्युक्त शैव-दर्शन से असंतुष्ट हैं क्योंकि उस दर्शन के अनुसार अपेक्षारहित (प्रयोजनशून्य motiveless) जड़ पदार्थों को कारण माना गया है जो दोषपूर्ण है । [लौकिक व्यवहार में लोग कहते हैं कि घट-निर्माण के कारण हैं मिट्टी, डंडा, चाक आदि । लेकिन वस्तुस्थिति ऐसी नहीं है । न तो केवल मिट्टी से घट बनता है, न केवल चाक से, न डंडे से । अब यदि यह मानें कि ये सब मिलकर घट बनाते हैं तब प्रश्न होगा कि घट-निर्माण में किसकी अपेक्षा हुई ? मिट्टी, डंडे या चाक की तो अपेक्षा नहीं है क्योंकि अपेक्षा किसी चेतन पदार्थ में ही होती है, यह चेतन का धर्म है । अब यदि कुम्भकार को घट का कारण मानें कि वह मिट्टी आदि की अपेक्षा रखते हुए घट बनाता है तो ठीक होगा । ठीक यही उदाहरण संसार के निर्माण में दिया जा सकता है । कर्म तो जड़-पदार्थ है, उससे संसार का निर्माण कैसे हो सकेगा ? अब यदि इसी उदाहरण के बल पर, कर्मों की अपेक्षा रखनेवाले ईश्वर को संसार का कारण मानें तो ठीक

नहीं है क्योंकि ऐसा होने से संसार के निर्माण में ईश्वर पूर्णतः स्वतंत्र नहीं रहेगा। पूर्ण स्वातंत्र्य का अभिप्राय है कि किसी दूसरी वस्तु की अपेक्षा न रहे। किसी रूप में दूसरे का सहारा न ले।]

इसीलिए ये लोग किसी दूसरे मत की खोज में हैं। ये घोषणा करते हैं कि परमेश्वर की इच्छामात्र से संसार का निर्माण होता है। अपने संवेदन (अनुभव) के द्वारा अनुमान करने से (उपपत्ति=अनुमान) और शैवागमों से सिद्ध होने वाली, प्रत्यक् (सबों के ऊपर Transcendent) आत्मा के साथ तादात्म्य (एकरूपता identity) होने पर नाना प्रकार के मान (ज्ञान Cognitions) और मेय (ज्ञेय Knowable) आदि के भेदों और अभेदों को धारण करने वाला परमेश्वर ही है; वह ऐसी स्वतन्त्रता धारण करता है जिसमें किसी दूसरे की मुखापेक्षिता (हस्तक्षेप, आवश्यकता) नहीं रहती; वह अपनी आत्मा पर आकाशादि भावों को उसी प्रकार अवभासित (व्यक्त) करता है जिस प्रकार किसी दर्पण पर प्रतिबिम्ब (परछाईं) पड़ता है--इन लोगों का यही मत है। [आशय यह है--जिस प्रकार दर्पण पर प्रतिबिम्ब पड़ता है उसी प्रकार परमेश्वर अपने ही स्वरूप में सृष्टि, स्थिति संहार आदि संसार की सभी क्रियाओं को व्यक्त करता है[1] क्योंकि चेतन-अचेतन सभी पदार्थ परमेश्वर के अन्तर्गत ही हैं, कोई उससे पृथक् नहीं—यही अद्वैत तत्त्व है। किन्तु यहां माया न मान कर सब पदार्थों का ईश्वर में अवभास मानते हैं इसीलिए यह दर्शन वस्तुवादी प्रत्ययवाद या Realistic Idealism कहलाता है। अब परमेश्वर के अन्तर्गत देखें—वहां विद्यमान पदार्थों में भेद और अभेद दोनों हैं। वस्तुओं में पारस्परिक भेद है, संसार में नाना प्रकार के ज्ञेय पदार्थ हैं जिसके ज्ञान भी पृथक्-पृथक् होते हैं, किन्तु यह संसार परमेश्वर से थोड़ा भी भिन्न नहीं है। वृक्ष एक है, शाखायें भिन्न-भिन्न हैं—वैसे ही ईश्वर में भी भेद और अभेद दोनों है। यह परमेश्वर प्रत्यगात्मा के साथ तादात्म्य रखता है पर इसे जानते कैसे हैं? या तो अनुमान से या शैवागमों के बल पर। 'मैं ही ईश्वर हूँ दूसरा कोई नहीं' इसे ही प्रत्यभिज्ञा कहते हैं क्योंकि यहां साक्षात्कार होता है—जीव और ईश्वर का तादात्म्य स्थिर होता है। यही स्वानुभाव

१. अतोऽसौ परमेशानः स्वात्मव्योमन्यनर्गलः।
इयतः सृष्टिसंहाराडम्बरस्य प्रकाशकः॥
निर्मले मुकुरे यद्वद् भान्ति भूमिजलादयः।
अमिश्रास्तद्वदेकस्मिंश्चिन्नाथे विश्ववृत्तयः॥

तन्त्रालोक (२।३-४)।

('मैं ईश्वर हूँ') अनुमान का आधार है। ईश्वर की स्वतंत्रता भी मानी जाती है, वह अपनी इच्छा से ही संसार को बना और मिटा सकता है।]

बाह्य-चर्या (भस्मस्नानादि), आभ्यन्तर-चर्या (क्राथनादि), प्राणायाम आदि क्लेशप्रद प्रयासों से दूर रह कर, सब लोगों के लिए सुलभ, बिल्कुल नवीन, प्रत्यभिज्ञा मात्र को ही परसिद्धि (मुक्ति) और अपरसिद्धि (अभ्युदय, स्वर्गप्राप्ति आदि) मानते हुए ये महेश्वर-सिद्धान्त वाले प्रत्यभिज्ञाशास्त्र का अभ्यास करते हैं।

(२. प्रत्यभिज्ञा-दर्शन का साहित्य)

तस्येयत्तापि न्यरूपि परीक्षकैः—

१. सूत्रं वृत्तिर्विवृतिर्लघ्वी बृहतीत्युभे विमर्शिन्यौ।
प्रकरणविवरणपञ्चकमिति शास्त्रं प्रत्यभिज्ञायाः ॥

परीक्षकों (अधिकारियों) ने इस शास्त्र की सीमा (इयत्ता) का भी विचार किया है—'सूत्र (संक्षेप में अर्थ को समझाना), वृत्ति (सम्बद्ध अर्थ का कथन) विवृति (विवरण, दूसरे शब्दों के द्वारा अर्थ-वर्णन), लघु और बृहत् दो प्रकार की विमर्शिनी (कुछ और अधिक विचार करना), ये पाँच प्रकार के प्रकरण (प्रसंगबोधक या एकार्थप्रतिपादक ग्रंथांश) और विवरण (व्याख्यानग्रंथ की व्याख्या) प्रत्यभिज्ञा के शास्त्र (साहित्य) हैं।

विशेष—प्रत्यभिज्ञा-दर्शन का वास्तव में त्रिक-दर्शन नाम होना चाहिए क्योंकि इसीसे पूरे दर्शन का बोध हो जाता है। 'स्पन्द' और 'प्रत्यभिज्ञा' तो इसके केवल अंगमात्र हैं, भले ही वे आवश्यक ही क्यों न हों। त्रिक नाम पड़ने में यह कहा जाता है कि ९२ आगमों में केवल तीन—सिद्धा, नामक और मालिनी—की प्रधानता होने के कारण (तंत्रालोक १।३५), या पर, अपर और परापर के त्रिकों का वर्णन करने के कारण (वही, १।७–२१), या अभेदवाद के आलोक में अभेद, भेद और भेदाभेद तीनों का वर्णन करने के कारण इसका नाम त्रिक पड़ा हो। काश्मीर में ही सभी ग्रंथकारों के उत्पन्न होने के कारण इसे काश्मीरी शैव-सिद्धान्त भी कहते हैं। काश्मीर में इस दर्शन का बहुत प्रचार था, किन्तु गत १०० वर्षों से इसकी परंपरा वहाँ भी समाप्त हो गई है। स्मरणीय है कि हिन्दी के सुप्रसिद्ध कवि और नाटककार श्री जयशंकर 'प्रसाद' के परिवार में भी इसी त्रिक-दर्शन का प्रचार था जिसे उन्होंने अपने युग-प्रवर्तक महाकाव्य 'कामायनी' में अमर कर दिया है।

त्रिक-दर्शन शैव सिद्धान्त का ही एक भेद है किन्तु अद्वैतवादी विचारों से परिपूर्ण है। ऐसी मान्यता है कि परम शिव ने अपने पाँच मुखों से उत्पन्न शिवागमों की द्वैतवादी व्याख्या देखकर अद्वैत तत्त्व के प्रचार के लिए दुर्वासा ऋषि को अपना कार्य-भार सौंपा। दुर्वासा ने अपने तीन मानस पुत्र उत्पन्न किये और उन्हें तीन उपदेश दिये—त्र्यम्बक को अद्वैत दर्शन का, आमर्दक को द्वैत का तथा श्रीनाथ को द्वैताद्वैत दर्शन का उपदेश दिया। त्र्यम्बक के द्वारा प्रचारित होने के कारण इस दर्शन (अद्वैतवादी त्रिक) को त्रैयम्बक दर्शन भी कहते हैं जिससे सोमानन्द (८५० ई०) अपने को त्र्यम्बक से १९ वीं पीढ़ी में रखता है। बहुत संभव है त्रिक-दर्शन का आविर्भाव पंचम शतक में हुआ हो।

दोनों की विचारधारा एक होने पर भी स्पन्द और प्रत्यभिज्ञा के साहित्य पृथक्-पृथक् हैं परन्तु दोनों को प्राय: मिला कर ही रखते हैं। प्रत्यभिज्ञा-दर्शन के पांच प्रकरण विवरण ग्रंथों में ये हैं—सूत्र, वृत्ति, विवृति, लघुविमर्शिनी, बृहद्-विमर्शिनी। प्रथम तीन की रचना **उत्पल** ने की और अंतिम दोनों **अभिनवगुप्त** की रचनाएँ हैं। इस प्रकार संक्षेपत: दो आचार्य ही प्रत्यभिज्ञा-दर्शन के सर्वस्व हैं। डा० कान्तिचन्द्र पाण्डेय (अभिनवगुप्त—ऐतिहासिक और दार्शनिक अध्ययन, पृ० ८३) का कहना है कि दोनों के पूर्वज काश्मीर के बाहर के निवासी थे। सोमानन्द की चौथी पीढ़ी के पूर्वज इसे काश्मीर में अष्टम शतक के मध्य में ले आये थे तथा अभिनवगुप्त के पूर्वज अत्रिगुप्त को ललितादित्य नामक काश्मीर-नरेश प्राय: ७४० ई० के बाद काश्मीर ले गये थे। तब से दोनों के पूर्वज वहीं बस गये थे। उक्त दोनों आचार्यों के पूर्व त्रिक का प्रवर्तन वसुगुप्त (८२५ ई०) ने किया था जिनसे स्पन्द-शाखा का आरंभ होता है।

वसुगुप्त (८२५ ई०) ने अपने 'शिवसूत्र' में तांत्रिक शैवमत को अद्वैतवादी रूप दिया। राजतरंगिणी (५।६६) में इन्हें सिद्ध कहा गया है तथा इनके शिष्य कल्लट को अवन्तिवर्मा (८५५–८८३ ई०) का समकालिक माना गया है। क्षेमराज ने शिवसूत्रविमर्शिनी में कहा है कि वसुगुप्त को स्वप्न हुआ था कि वह महादेव गिरि के एक विशाल शिलाखंड पर उत्कीर्ण शिवसूत्रों का उद्धार करे। ये ७७ शिवसूत्र ही इस दर्शन के मूल हैं जो तीन खंडों में बँटे हैं। इसने और भी कई पुस्तकें लिखीं जैसे—स्पन्दकारिका, स्पन्दामृत, गीता की वासवी टीका तथा सिद्धान्त-चन्द्रिका। **कल्लट** (८५५ ई०) ने स्पन्दकारिका पर स्पन्दसर्वस्व टीका लिखी तथा तत्त्वार्थचिन्तामणि और स्पन्दसूत्र भी इसके लिखे ग्रंथ हैं। **रामकण्ठ** (९५० ई०) ने स्पन्दविवरणसारमात्र नामक ग्रंथ लिखा जो स्पन्दकारिका की टीका है। भास्कराचार्य (अभिनव के समकालिक) के साथ स्पन्द शाखा का

इतिहास समाप्त होता है यद्यपि अभिनव के बाद भी कुछ न कुछ टीकायें लिखी गईं।

प्रत्यभिज्ञा शाखा का प्रवर्तन **सोमानन्द** (८५० ई०) ने अपनी 'शिवदृष्टि' के द्वारा किया। इसमें सात अध्यायों में ७०० श्लोक हैं। स्पन्द-शाखा में प्रचलित रूढ़िवाद के विरुद्ध इसमें तर्कवाद की प्रतिष्ठा हुई है। इनके पुत्र और शिष्य **उत्पल** (९०० ई०) थे जिन्होंने ईश्वरप्रत्यभिज्ञा-कारिका, ईश्वर-प्रत्यभिज्ञा-वृत्ति, ईश्वर-प्रत्यभिज्ञा-टीका, स्तोत्रावली आदि प्रायः ११ ग्रंथ लिखे। प्रत्यभिज्ञा का दार्शनिक विवेचन सर्वप्रथम इन्होंने ही किया। **लक्ष्मणगुप्त** उत्पल के पुत्र और शिष्य भी थे जिन्हें **अभिनवगुप्त** (९५०-१०२० ई०) के समान बहुमुखी प्रतिभा वाले शिष्य को उत्पन्न करने का गौरव प्राप्त है। अभिनवगुप्त का नाम दर्शन और साहित्य दोनों ही क्षेत्रों में प्रसिद्ध है। इनके पिता का नाम नरसिंहगुप्त था जिनसे इन्होंने व्याकरण पढ़ा था।

अभिनवगुप्त ने प्रायः पचास ग्रन्थ विभिन्न विषयों के लिखे। साहित्यिक ग्रन्थों में ध्वन्यालोक की टीका लोचन तथा नाट्यशास्त्र की टीका अभिनवभारती अत्यन्त प्रसिद्ध हैं। त्रिक-दर्शन पर इनके ये सुप्रसिद्ध ग्रंथ है—मालिनीविजय-वार्तिक, परात्रिंशिका विवृति, तन्त्रालोक, तन्त्रसार, परमार्थसार, ईश्वर प्रत्यभिज्ञा-विमर्शिनी, ईश्वर-प्रत्यभिज्ञा-विवृति-विमर्शिनी इत्यादि। अभिनवगुप्त पर विशेष ज्ञान के लिए डा० कान्तिचन्द्र पाण्डेय की पुस्तक (चौखम्बा से प्रकाशित) देखें। अभिनव के शिष्य **क्षेमराज** (९७५-१०५०) ने भी गुरु की तरह ही तंत्र, काव्यशास्त्र और शैवदर्शन पर ग्रंथ लिखे। शैव-दर्शन पर स्पन्द-सन्दोह, स्पन्द-निर्णय, प्रत्यभिज्ञा हृदय, शिवसूत्रविमर्शिनी आदि इनमें विख्यात ग्रन्थ हैं। इनके शिष्य **योगराज** (१०७५) ने अभिनव के परमार्थ-सार पर विवृति लिखी। तन्त्रालोक पर सर्वप्रथम टीका **सुभटदत्त** (१२००) ने लिखी थी यद्यपि **जयरथ** (१२२५ ई०) की सुविशाल टीका 'विवेक' के समक्ष उसकी कीर्ति मन्द पड़ गई। **भास्करकण्ठ** (१७५० ई०) ने अभिनव की प्रत्यभिज्ञा-विमर्शिनी पर एकमात्र उपलब्ध टीका लिखी जिसका नाम भास्करी है। इसके अतिरिक्त इन्होंने १४ वीं शती में किसी स्त्री के द्वारा प्राचीन काश्मीरी भाषा में लिखित लल्ला वाक्य का संस्कृत मे अनुवाद किया और योगवासिष्ठ पर टीका लिखी। **वरदराज** ने वसुगुप्त के शिवसूत्रों पर वार्तिक लिखा है।

इस प्रकार काश्मीरी शैव-दर्शन में विपुल साहित्य है जो अपने आलोडन के लिए विद्वानों का निरन्तर आवाहन करता है।

(३. प्रथम सूत्र की व्याख्या)

तत्रेदं प्रथमं सूत्रम्—

२. कथंचिदासाद्य महेश्वरस्य
दास्यं जनस्याप्युपकारमिच्छन् ।
समस्तसंपत्समवाप्तिहेतुं
तत्प्रत्यभिज्ञामुपपादयामि ॥ इति ।

उनमें यही प्रथम सूत्र है (वास्तव में प्रत्यभिज्ञासूत्र पर अभिनवगुप्त की टीका का मंगलाचरण है)—'किसी प्रकार महेश्वर के दास का पद पाकर और लोगों का उपकार करने की इच्छा से सारी संपत्तियों की प्राप्ति करानेवाले प्रत्यभिज्ञा-शास्त्र का मैं आरंभ कर रहा हूँ ।'

विशेष—अभिनवगुप्त बहुत बड़े तांत्रिक भी थे और उनका महेश्वर की दासता स्वीकार करना सर्वथा उचित है। तांत्रिक और संन्यासी के रूप में उन्होंने संसार का बड़ा भारी कल्याण किया था। प्रत्यभिज्ञा सूत्र पर विमर्शिनी के आरंभ में ही यह श्लोक दिया गया है। यह स्मरणीय है कि नकुलीश-पाशुपत-दर्शन में जहाँ वैष्णवों की ईश्वर-दासता का उपहास किया गया है वहाँ एक माहेश्वर ईश्वर की दासता प्राप्त करने में कठिनाई का अनुभव करते हैं तथा पा लेने पर गर्वपूर्वक इसका उल्लेख करते हैं। इसके बाद इसी सूत्र की व्याख्या में सारे दर्शन का विपुलांश समझाया जायगा ।

कथंचिदिति—परमेश्वराभिन्नगुरुचरणारविन्दयुगलसमाराधनेन परमेश्वरघटितेन एवेत्यर्थः । आसाद्येति—आ समन्तात्परिपूर्णतया सादयित्वा, स्वात्मोपभोग्यतां निरर्गलां गमयित्वा । तदनेन विदितवेद्यत्वेन परार्थशास्त्रकरणेऽधिकारो दर्शितः । अन्यथा प्रतारणमेव प्रसज्येत ।

कथंचित् का यह अर्थ है—गुरु जो परमेश्वर से भिन्न नहीं है, उनके दोनों चरणकमलों की आराधना करके; यह आराधना भी परमेश्वर के स्वीकार करने पर ही होती है। **आसाद्य** का अर्थ है—आ अर्थात् चारों ओर से या पूर्णरूप से पाकर (√सद् + णिच्), या निर्बन्ध रूप से अपनी आत्मा के उपभोग करने की योग्यता पाकर। [अभिप्राय यह है कि आत्मा को बन्धनरहित उपभोग प्राप्त होता है। यह उपभोग है प्रत्यभिज्ञा के प्रकाशन और परोपकार के द्वारा प्राप्त मानसिक संतोष। अभिनवगुप्त आत्मा की उपभोग्यता या संतुष्टि प्राप्त कर चुके

हैं इसीलिए प्रत्यभिज्ञा-शास्त्र लिखने का उपक्रम कर रहे हैं। संतोष तभी होगा जब जानने लायक सारी वस्तुएँ जान चुके हों, ज्ञान के विषय में कोई बन्धन नहीं हो।] इस प्रकार इस शब्द से यह दिखलाया जाता है कि सारी ज्ञेय वस्तुएँ जान लेने के बाद ही परोपयोगी (परार्थ) शास्त्र निर्माण करने का अधिकार मिलता है। नहीं तो (ज्ञान के अभाव में) लोगों को ठगना ही भर हो सकता है। [यह आशय है—राजा के द्वारा अधिकार मिल जाने पर नौकर अपनी नौकरी के अधिकार का इच्छापूर्वक उपभोग करता है। सूत्रकार ने भी अपनी इच्छा के अनुसार ईश्वर की दासता प्राप्त की है जो उनके उपभोग के योग्य है और जिसमें कहीं कोई रुकावट नहीं। वे सारे ज्ञेय पदार्थ जान चुके हैं, इससे अपने अधिकार का उपभोग अच्छी तरह कर सकते हैं,—परोपकार का काम कर सकते हैं, प्रत्यभिज्ञा-शास्त्र लिख सकते हैं इत्यादि। जो अपना अधिकार नहीं जानते, वे केवल दूसरों को ठगते हैं, वास्तव में उन्हें ग्रंथ लिखना नहीं चाहिए। यदि ग्रन्थ लिखते हैं तो गलत बातों का भी तो प्रतिपादन कर सकते हैं और इस प्रकार वे शास्त्र पढ़नेवालों को मार्ग से भ्रष्ट करेंगे।]

मायोत्तीर्णा अपि महामायाधिकृता विष्णुविरिञ्च्याद्या यदीयैश्वर्यलेशेन ईश्वरीभूताः स भगवाननवच्छिन्नप्रकाशानन्दस्वातन्त्र्यपरमार्थो महेश्वरः। तस्य दास्यम्। दीयतेऽस्मै स्वामिना सर्वं यथाभिलषितमिति दासः। परमेश्वरस्वरूपस्वातन्त्र्यपात्रमित्यर्थः।

विष्णु, विरिञ्चि (ब्रह्मा) आदि देवता यद्यपि माया को पार कर चुके हैं, परन्तु महामाया (अनन्त माया) के अधीन हैं। जिस शक्ति के ऐश्वर्य के केवल लेश (अल्पांश) से ये देवता ईश्वर के रूप में माने जाते हैं वही भगवान् (ऐश्वर्य से युक्त) **महेश्वर** है जो असीम (अनवच्छिन्न) प्रकाश, आनन्द तथा स्वातन्त्र्य के रूप में है तथा परमतत्त्व भी यही है। उस महेश्वर की दासता (पाकर···)। दास उसे कहते हैं जिसे स्वामी की ओर से सारी अभीष्ट वस्तुएँ दी जाती हैं। दूसरे शब्दों में यह कहेंगे कि दास परमेश्वर के ही स्वरूप—स्वतंत्रता—का पात्र होता है। [परमेश्वर की स्वतंत्रता का थोड़ा अंश दास को भी प्राप्त होता है। परमेश्वर के स्वरूप में ये हैं—प्रकाश, आनन्द, स्वातंत्र्य। यही परमतत्त्व या परमार्थ (Ultimate Reality) है। ये किसी भी पदार्थ के द्वारा व्याप्त नहीं है।]

जनशब्देनाधिकारिविषयनियमाभावः प्रादर्शि। यस्य यस्य

हीदं स्वरूपकथनं तस्य तस्य महाफलं भवति। प्रज्ञानस्यैव परमार्थफलत्वात्। तथोपदिष्टं शिवदृष्टौ परमगुरुभिर्भगवत्सोमानन्दनाथपादैः—

३. एकवारं प्रमाणेन शास्त्राद्वा गुरुवाक्यतः।
ज्ञाते शिवत्वे सर्वस्थे प्रतिपत्त्या दृढात्मना॥
४. करणेन नास्ति कृत्यं क्वापि भावनयापि वा।
ज्ञाते सुवर्णे करणं भावनां वा परित्यजेत्॥ इति।

'जन' शब्द से अधिकारी बनने के विशेष नियमों का अभाव व्यक्त होता है। [जन का अर्थ है सामान्य व्यक्ति। अन्य दर्शनों में जहाँ शास्त्र सुनने के लिए कड़े-कड़े नियम बनाये गये हैं, वहीं प्रत्यभिज्ञा का द्वार जनसाधारण के लिए खुला है। मुमुक्षु कोई भी हो प्रत्यभिज्ञा-शास्त्र सुने। भस्म में स्नान, व्रत आदि किसी नियम की आवश्यकता नहीं।[1]] जिस किसी व्यक्ति को महेश्वर के इस स्वरूप का ज्ञान कराया जाय महान् फल की प्राप्ति होती है। कारण यह है कि प्रकृष्ट ज्ञान (प्रत्यभिज्ञा) में ही परमार्थ का फल प्राप्त होता है। [महेश्वर के स्वरूप का कथन इस प्रकार होता है—'यह सब कुछ महेश्वर ही है', जिस व्यक्ति को ऐसी बात बतलायी जाती है वह जान लेता है कि 'मैं ही महेश्वर हूँ'। इस अद्वैत-तत्त्व का साक्षात्कार कर लेना ही परमार्थ है, महाफल है जो मुमुक्षुओं को प्राप्त होता है।

शिवदृष्टि नामक अपने ग्रन्थ में परम-गुरु (शास्त्र-प्रवर्तक) भगवान् पूज्य श्री सोमानन्दनाथ ने यही कहा है—'जब एक बार प्रमाणों के द्वारा, शास्त्र (प्रत्यभिज्ञा) के द्वारा या गुरुओं की वाणी के द्वारा दृढ़ आत्मा से प्रतिपत्ति-पूर्वक (विश्वासपूर्वक) सर्वत्र स्थित शिव-तत्त्व का ज्ञान हो जाता है तब न

---

१. ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविमर्शिनी (२।२७६) से सूचित होता है कि शास्त्राध्ययन के लिए जाति-पाँति का कोई बन्धन नहीं। फिर भी अध्ययन के लिए छह वैदिक दर्शनों और वेदाङ्गों का अध्ययन पहले से हो क्योंकि इस दर्शन में सबों की आलोचना है। इसके अतिरिक्त भी कहा है—

योऽधीती निखिलागमेषु पदविद्यो योगशास्त्रश्रमी,
यो वाक्यार्थसमन्वये कृतरतिः श्रीप्रत्यभिज्ञामृते।
यस्तर्कान्तरविश्रुतश्रुततया द्वैताद्वयज्ञानवित्
सोऽस्मिन्स्यादधिकारवान्कलकलप्रायः परेषां रवः॥

Dr. K. C. Pandey, Abhinavagupta, pp. 171–2.

तो किसी करण (प्रमाणादि साधन) का कोई काम (आवश्यकता) है और न भावना का ही। सुवर्ण का ज्ञान हो जाने पर करण और भावना को लोग छोड़ ही देते हैं।'

विशेष—भावना का अर्थ है—पर्यालोचना या विशेष गुणों का चिन्तन। इस स्थान पर 'मैं शिव हूँ' इस प्रकार का निरन्तर चिन्तन करना भावना है। जब शिव का सर्वस्वरूप में ज्ञान हो जाता है तब उसके ज्ञान के प्रमाणों की आवश्यकता नहीं होती और न उक्त चिन्तन या भावना-व्यापार की ही। जब तक 'यह सुवर्ण है' इस रूप में सुवर्ण का ज्ञान नहीं हो जाता तब तक उसके ज्ञान के साधन कसौटी-पत्थर (touch-stone) आदि चीजें ले आते हैं। कोई व्यक्ति किसी चीज को अ-सुवर्ण समझ कर त्यागना चाहता हो और हम उसे कहें कि यह सुवर्ण ही के रूप में भावनीय है तो यह भावना हुई। सुवर्ण का ज्ञान हो जाने पर न तो कसौटी की जरूरत है और न सुवर्ण-भावना की। रोगमुक्ति के बाद औषधि का क्या काम ?

(३ क. 'अपि' और 'उप' शब्दों के अर्थ)

अपिशब्देन स्वात्मनस्तदभिन्नतामाविष्कुर्वता पूर्णत्वेन स्वात्मनि परार्थसंपत्त्यतिरिक्तप्रयोजनान्तरावकाशश्च पराकृतः। परार्थश्च प्रयोजनं भवत्येव। तल्लक्षणयोगात्। न ह्ययं देवशापः 'स्वार्थ एव प्रयोजनं न परार्थ' इति। अत एवोक्तमक्षपादेन— 'यमर्थमधिकृत्य प्रवर्तते तत्प्रयोजनम्' (गौ० सू० १।१।२४) इति।

'अपि' शब्द के द्वारा, अपनी आत्मा की अभिन्नता उस महेश्वर से स्थापित करने वाले पूर्णत्व के कारण, अपनी ही आत्मा में परोपकार का कार्य संपादित करने के अतिरिक्त किसी अन्य प्रयोजन की संभावना समाप्त हो जाती है। [अभिप्राय यह है कि आत्मा और महेश्वर एक ही है। अभिनवगुप्त सभी लोगों को महेश्वर के समीप पहुँचाना चाहते हैं (उपकार = समीप ले जाना) अर्थात् दास का पद देना चाहते हैं। स्वयं तो दास्य पा ही चुके हैं, लोगों को भी देना चाहते हैं। इस प्रकार 'अपि' के द्वारा उनकी अपनी प्रत्यभिज्ञा या साक्षात्कार का अर्थ समझा जाता है। दास्य-प्राप्ति के लिए सूत्रकार ने परमेश्वर के साथ अपनी अभिन्नता का साक्षात्कार किया है—उस अर्थ की प्राप्ति इस 'अपि' के द्वारा हो जाती है। फलतः अब सूत्रकार को केवल परोपकार ही सूझता है अब स्वार्थ की भावना तो रही नहीं—इसलिए परोपकार के

अतिरिक्त सारे प्रयोजनों का खण्डन ही 'अपि' के द्वारा होता है। 'अपि' से एक ही साथ कई चीजें ज्ञात हो जाती हैं।]

[शास्त्र का] प्रयोजन परोपकार तो हो ही सकता है क्योंकि परोपकार के लक्षणों की प्राप्ति प्रस्तुत स्थल में हो जाती है। यह किसी देवता का शाप नहीं है कि मनुष्य का प्रयोजन जब होगा तब स्वार्थ ही, परमार्थ नहीं। [बहुत से व्यक्ति निस्वार्थ-भाव से परमार्थ (परोपकार) में लगे हैं।] प्रयोजन का लक्षण करते हुए अक्षपाद (गौतम) अपने न्यायसूत्र में कहते हैं—'जिस (उपादेय या त्याज्य) वस्तु को लक्षित करके [उसकी प्राप्ति या त्याग के लिए मनुष्य] उपाय करता है वही उसका प्रयोजन कहलाता है।' (न्यायसूत्र १।१।२४)। [ऐसी स्थिति में यदि मनुष्य का अभीष्ट—उपादेय—परोपकार हो तो वही प्रयोजन है, इसमें सन्देह की क्या बात है ?]

उपशब्दः सामीप्यार्थः। तेन जनस्य परमेश्वरसमीपताकरण-मात्रं फलम्। अत एवाह—समस्तेति। परमेश्वरतालाभे हि सर्वाः संपदस्तन्निष्यन्दमय्यः संपन्ना एव, रोहणाचललाभे रत्नसंपद इव। एवं परमेश्वरतालाभे किमन्यत्प्रार्थनीयम् ?

'उप' शब्द का अर्थ है समीप आना। इसलिए यह ज्ञात होता है कि प्रत्यभिज्ञा-शास्त्र का फल केवल परमेश्वर के समीप कर देना ही है, और कुछ नहीं। इसीलिए आगे कहा है—**'समस्तसंपत्समवाप्तिहेतुम्'**। परमेश्वर का पद पा लेने पर ही सारी संपत्तियाँ उस (परमेश्वर) के निष्यन्द (प्रवाहित वस्तु) के रूप में निकल कर प्राप्त हो जाती हैं जिस प्रकार रोहणाचल (मेरुपर्वत जिसमें रत्न के मैदान हैं और जो स्वयं स्वर्ण का ही है) के मिल जाने पर रत्न-संपत्तियाँ प्राप्त होती हैं। इस प्रकार परमेश्वर का पद मिल जाने पर और कौन सी ऐसी वस्तु है जिसके लिए प्रार्थना की जाये ?

तदुक्तमुत्पलाचार्यैः—

६. भक्तिलक्ष्मीसमृद्धानां किमन्यदुपयाचितम्।
एतया वा दरिद्राणां किमन्यदुपयाचितम्॥ इति।

इत्थं षष्ठीसमासपक्षे प्रयोजनं निर्दिष्टम्। बहुव्रीहिपक्षे तूपपादयामः।

जैसा कि उत्पलाचार्य ने कहा है—'भक्ति-रूपी लक्ष्मी से समृद्ध पुरुषों के लिए कौन-सी दूसरी चीज है जिसके लिए वे प्रार्थना करें ? और जो व्यक्ति उस

(भक्ति रूपी धन) से रहित हैं उनके लिए कौन सी वस्तु त्याज्य है ? [भक्ति से रहित व्यक्ति की याचना सभी वस्तुओं के लिए होती है—याचना की इयत्ता तो कहीं है ही नहीं । Demands are never fulfilled.]

इस प्रकार 'समस्त···समवाप्तिहेतु' में षष्ठी तत्पुरुष समास मानने पर प्रयोजन दिखलाया गया । [षष्ठीसमास—'सारी संपत्तियों की प्राप्ति का कारण' । बहुव्रीहि समास—'सारी संपत्तियों की प्राप्ति ही जिसका हेतु (लक्ष्य) है ।] बहुव्रीहि-समास मान लेने पर जो स्थिति होगी उसका निर्णय अब करते हैं ।

समस्तस्य बाह्याभ्यन्तरस्य नित्यसुखादेर्या संपत्सिद्धिः तथात्वप्रकाशः, तस्याः सम्यगवाप्तिर्यस्याः प्रत्यभिज्ञायाः हेतुः सा तथोक्ता । तस्य महेश्वरस्य प्रत्यभिज्ञा, प्रति आभिमुख्येन, ज्ञानम् । लोके हि स एवायं चैत्र इति प्रतिसंधानेनाभिमुखीभूते वस्तुनि ज्ञानं प्रत्यभिज्ञेति व्यवह्रियते । इहापि प्रसिद्धपुराणसिद्धागमानुमानादिज्ञातपरिपूर्णशक्तिके परमेश्वरे सति स्वात्मनि अभिमुखीभूते तच्छक्तिप्रतिसंधानेन ज्ञानमुदेति नूनं स एवेश्वरोऽहमिति ।

[बहुव्रीहि-पक्ष में अर्थ—] बाहरी या भीतरी सभी प्रकार के नित्य-सुख आदि संपदाओं की सिद्धि अर्थात् उनके वास्तविक स्वरूप का प्रकाशन होता है । उक्त सिद्धि या प्रकाशन को अच्छी तरह से प्राप्त कर लेना ही जिस प्रत्यभिज्ञा का हेतु (लक्ष्य) है वह [प्रत्यभिज्ञा ही 'समस्तसंपत्समवाप्तिहेतुः' के द्वारा व्यक्त होती है] । उस महेश्वर की प्रत्यभिज्ञा का अर्थ है—प्रति अर्थात् अभिमुख होकर ज्ञान प्राप्त करना । लौकिक व्यवहार में 'यह वही चैत्र है' इस प्रकार प्रतिसंधान (बीती बात का संबन्ध जोड़ना) करके सम्मुख आई हुई वस्तु का ज्ञान प्राप्त करने को 'प्रत्यभिज्ञा' (Recognition पहचानना) कह कर पुकारते हैं ।

यहाँ भी परमेश्वर की सत्ता मानते हैं जिस (परमेश्वर) की परिपूर्ण शक्ति को प्रसिद्ध पुराणों, सिद्ध आगमों और अनुमानादि प्रमाणों से जानते हैं । जब आत्मा हमारे सम्मुख आती है तब परमेश्वर की शक्ति का संबन्ध इससे जोड़ लेते हैं (प्रतिसंधान), इससे ज्ञान उत्पन्न होता है कि सचमुच मैं भी वही ईश्वर हूँ । [प्रत्यभिज्ञा किसी बीती बात के आधार पर होती है । यहाँ वह बीती बात है ईश्वर की आगमानुमानसिद्ध सत्ता । इसी के आधार पर आत्मा में ईश्वर की प्रत्यभिज्ञा (साक्षात्कार) कर लेते हैं । यही प्रत्यभिज्ञा-दर्शन नाम पड़ने का कारण है । हम ऊपर देख चुके हैं कि प्रत्यभिज्ञा केवल एक आवश्यक तत्त्व मात्र है, पूरे दर्शन का नाम इस पर पड़ जाना ठीक नहीं ।]

तामेतां प्रत्यभिज्ञामुपपादयामि। उपपत्तिः संभवः। संभवतीति तत्समर्थाचरणेन प्रयोजकव्यापारेण संपादयामीत्यर्थः।

[सूत्र की व्याख्या का उपसंहार करते हुए कहते हैं कि] उक्त गुणों से युक्त प्रत्यभिज्ञा का आरंभ कर रहा हूँ। उपपत्ति का यहाँ अर्थ है संभव (उत्पत्ति करना)। संभव हो रहा है = मैं [प्रत्यभिज्ञा-शास्त्र की रचना की] सामर्थ्य व्यक्त करने वाने वाले आचरण से युक्त प्रयोजक (सूत्रकार, काम कराने वाला) की क्रिया के द्वारा इसकी स्थापना कर रहा हूँ। [सूत्रकार यहाँ पर प्रयोजक है, अपने व्यापार में वह लगा है कि लोग इस शास्त्र को पढ़ें। उसका व्यापार यही है कि प्रत्यभिज्ञा के उपपादन के अनुकूल आचरण करे। प्रत्यभिज्ञा तभी संभव है जब इसकी प्रतिबन्धक विपरीत भावनाओं का विनाश कर दिया जाय। दृष्टान्त के लिए अग्नि को लें। शीतकाल में ठंढक बढ़ जाने पर अध्ययन करने में असमर्थ छात्र आग पास में रखकर अध्ययन करते हैं। तब ऐसा कहा जाता है कि आग ही उन्हें पढ़ा रही है। अग्नि यहाँ प्रयोजक कर्ता है इसका व्यापार यही है कि अध्ययन करने में छात्रों को समर्थ बना दे जिसमें उसे शीत का निवारण करना पड़ता है। उसी प्रकार प्रयोजक सूत्रकार प्रत्यभिज्ञाशास्त्र को अपने व्यापार से अभिव्यक्ति के समर्थ बनाता है और विरोधी भावनाओं का बहिष्कार करता है।]

(४. प्रत्यभिज्ञा के प्रदर्शन की आवश्यकता)

यदीश्वरस्वभाव एवात्मा प्रकाशते, तर्हि किमनेन प्रत्यभिज्ञाप्रदर्शनप्रयासेनेति चेत्—तत्रायं समाधिः। स्वप्रकाशतया सततमवभासमानेऽप्यात्मनि मायावशाद् भागेन प्रकाशमाने पूर्णतावभाससिद्धये दृक्क्रियात्मकशक्त्याविष्करणेन प्रत्यभिज्ञा प्रदर्श्यते।

[यह प्रश्न हो सकता है कि] यदि ईश्वर के स्वरूप (= चैतन्य) के रूप में ही आत्मा प्रकाशित होती है (अर्थात् यदि चैतन्य ही आत्मा के रूप में व्यक्त होता है) तो प्रत्यभिज्ञा (आत्मा द्वारा ईश्वर का साक्षात्कार) को प्रदर्शित करने का यह इतना परिश्रम व्यर्थ किया जा रहा है। [आशय यह है कि आत्मा और ईश्वर में एकता यदि पहले ही से सिद्ध है और आत्मा ईश्वर का अपना रूप ही है तो अपने आप वह व्यक्त हो जायगी, उसके द्वारा ईश्वर को पहचाने जाने की बात तो बिल्कुल व्यर्थ है।]

इसका यह समाधान है—आत्मा अपनी प्रकाशन शक्ति के कारण निरंतर अवभासित (व्यक्त) होती रहती है, फिर भी माया के कारण उसका यह प्रकाशन अंशतः ही होता है। [आत्मा में चैतन्य का प्रकाशन होता है किन्तु पूर्ण चैतन्य का नहीं; पूर्ण चैतन्य ईश्वर में है। आत्मा में माया के कारण ही पूर्ण चैतन्य का प्रकाशन नहीं होता। साधारण व्यक्तियों को आंशिक चैतन्य का अवभास होता है] इसलिए पूर्णता के अवभास की सिद्धि के लिए दृक्शक्ति और क्रियाशक्ति का आविष्कार करके प्रत्यभिज्ञा का प्रदर्शन होता है। [प्रत्यभिज्ञा निष्फल नहीं है। जिस समय ज्ञान और क्रिया दोनों प्रकार की शक्तियाँ मिल जाती हैं तब प्रत्यभिज्ञा होती है कि 'मैं वही ईश्वर हूँ'। तभी पूर्णतः ईश्वर का साक्षात्कार या आत्मा से एकीकरण संभव है। वस्तुतः त्रिक-दर्शन अद्वैतवादी है इसीलिए जीव और ईश्वर का ऐक्य स्थापित किया जाता है। ऐक्य होने पर पार्थक्य की जो प्रतीति होती है वह मायाजनित है। वह माया अद्वैतवेदान्तियों के पक्ष में रहकर स्वीकृत होती है। अवभास या आभास प्रत्यभिज्ञा-दर्शन का अपना शास्त्रीय शब्द है जिसका प्रयोग ये लोग प्रकाशन (Manifestation) के अर्थ करते हैं। सामान्य व्यक्ति के लिए जीव भागतः चैतन्य से युक्त है, प्रज्ञो के लिए पूर्णतः चैतन्ययुक्त। प्रत्यभिज्ञा ही यह ज्ञान दे सकती है।]

तथा च प्रयोगः 'अयमात्मा परमेश्वरो भवितुमर्हति। ज्ञानक्रियाशक्तिमत्त्वात्। यो यावति ज्ञाता कर्ता च स तावतीश्वरः प्रसिद्धेश्वरवद्राजवद्वा। आत्मा च विश्वज्ञाता कर्ता च। तस्मादीश्वरोऽयम्' इति। अवयवपञ्चकस्याश्रयणं मायावदेव नैयायिकमतस्य कक्षीकारात्।

उसे सिद्ध करने के लिए यह प्रयोग (अनुमान) है—(१) यह आत्मा परमेश्वर बनने में समर्थ है (२) क्योंकि इसके पास ज्ञान और क्रिया की शक्तियाँ हैं। (३) जो जितनी चीजों का ज्ञाता और कर्ता होता है वह उतनी चीजों के लिए ईश्वर (स्वामी) है, जैसे संसार-प्रसिद्ध ईश्वर (मंडलेश्वर, नरेश आदि) हैं या राजा लोग होते हैं। (४) आत्मा संसार का ज्ञाता और कर्ता है; (५) इसलिए यह आत्मा ईश्वर है।[1] इन पांच अवयवों वाले (परार्था-

१. इन पाँच वाक्यों में क्रमशः प्रतिज्ञा, हेतु, उदाहरण, उपनय और निगमन के वाक्य हैं। न्यायशास्त्र के अनुसार ही ये पाँचों वाक्य दूसरे शास्त्रों में भी प्रयुक्त होते हैं। कहा है—न्यायमूलं सर्वशास्त्रम्।

नुमान) का आश्रय लेते समय नैयायिकों के सिद्धान्त को स्वीकृत किया गया है (या नैयायिकों से पंचावयव अनुमान लिया है) जिस प्रकार माया का विचार [हमने अद्वैतवेदान्त से लिया है]।

तदुक्तमुदयाकरसूनुना—

७. कर्तरि ज्ञातरि स्वात्मन्यादिसिद्धे महेश्वरे।
अजडात्मा निषेधं वा सिद्धिं वा विदधीत कः॥

८. किं तु मोहवशादस्मिन्दृष्टेऽप्यनुपलक्षिते।
शक्त्याविष्करणेनेयं प्रत्यभिज्ञोपदर्श्यते॥

जैसा कि उदयाकर के पुत्र ने कहा है—(प्रश्न है कि) जब हम जानते हैं कि कर्त्ता और ज्ञाता के रूप में जो यह जीवात्मा है वह आदि-सिद्ध महेश्वर ही है, तो फिर कौन ऐसा विवेकशील (अजडात्मा) व्यक्ति है जो इस ईश्वर का [जीवात्मा में] निषेध करे या सिद्धि करे ? [तात्पर्य यह है कि जब स्वात्मा और महेश्वर की एकता अनादि काल से सिद्ध है तब हमें इस प्रश्न पर तनिक भी प्रयास करने की आवश्यकता नहीं—न तो हम जीवात्मा में ईश्वर का निषेध कर सकते हैं क्योंकि ऐसा करने से सिद्ध वस्तु का खण्डन होगा, और न ही इसकी सिद्धि की आवश्यकता है क्योंकि स्वयंसिद्ध वस्तु को पुनः सिद्ध करना निरर्थक है, कम से कम विवेकी व्यक्ति तो ऐसा नहीं करते।]॥ ७॥

[इसका उत्तर यह होगा—] 'यद्यपि स्वात्मा में ईश्वर के दर्शन होते हैं (ईश्वर का स्वरूप—चैतन्य कुछ दृष्टिगोचर होता है) किन्तु मोह या माया के कारण यह स्पष्टतः उपलक्षित (दिखलाई) नहीं होता। इसलिए शक्ति का (ज्ञानशक्ति और क्रियाशक्ति का) प्रतिसंधान (संबंध-स्थापना) करने के लिए इस प्रत्यभिज्ञा का प्रदर्शन होता है। [प्रत्यभिज्ञा के द्वारा ही जीवात्मा में विद्यमान ज्ञानशक्ति और क्रियाशक्ति का संबंध ईश्वर की ज्ञानशक्ति और क्रिया-शक्ति के साथ कर लेते हैं तथा दोनों के बीच अद्वैत-तत्त्व की स्थापना संभव होती है। इसीलिए प्रत्यभिज्ञा आवश्यक है।]' ॥ ८ ॥

विशेष—सायण-माधव की पुरानी बीमारी फिर उत्पन्न हो गई है। शैव-दर्शन में जिस प्रकार एक-एक बात कहकर उसकी पुष्टि के लिए प्रमाणों का अम्बार लगा रहे थे, अब यहाँ भी अनेक उद्धरणों के द्वारा अपनी सुप्रतिपादित बातों का पुनः प्रतिपादन करते हैं। क्यों न हो—द्विर्बद्धं सुबद्धं भवति = दो बार बाँध देने पर अच्छी तरह बँध जाता है।

(५. ज्ञानशक्ति और क्रियाशक्ति)

तथा हि—

९. सर्वेषामिह भूतानां प्रतिष्ठा जीवदाश्रया ।
ज्ञानं क्रिया च भूतानां जीवतां जीवनं मतम् ॥

१०. तत्र ज्ञानं स्वतःसिद्धं क्रिया कार्याश्रिता सती ।
परैरप्युपलक्ष्येत तथान्यज्ञानमुच्यते ॥ इति ।

११. या चैषां प्रतिभा तत्तत्पदार्थक्रमरूषिता ।
अक्रमानन्दचिद्रूपः प्रमाता स महेश्वरः ॥ इति च ।

जैसा कि इन श्लोकों से प्रकट है—'इस लोक में सभी प्राणियों की प्रतिष्ठा (स्थिति) जीव पर ही आश्रित है; जीवित प्राणियों का जीवन भी उनके ज्ञान और क्रिया पर निर्भर करता है ॥ ९ ॥ अब उन दोनों शक्तियों में ज्ञान तो स्वतः सिद्ध है (ज्ञान का अनुभव अपने आप में ही व्यक्ति करता है, दूसरे लोग किसी के ज्ञान को नहीं जान पाते) । किन्तु क्रिया कार्यों पर निर्भर करती है इसलिए दूसरे लोग भी इसे जान लेते हैं (स्वयं को तो क्रिया मालूम रहती ही है) । इसी प्रकार दूसरों के ज्ञान को भी जाना जा सकता है (जब कि वह कार्य के रूप में परिणत हो) ॥ १० ॥'

और भी कहा है—'इन जीवों में जो यह ज्ञानशक्ति (प्रतिभा) है [वह देश, काल और वस्तु की उपाधियों के द्वारा सीमित है] वह विभिन्न ज्ञेय पदार्थों का पता लगाने पर उसी क्रम से निरूपित है। यही ज्ञानशक्ति प्रमाता (सर्वज्ञ) महेश्वर है जब कि [उपाधियों से रहित होने पर] क्रम से रहित, आनन्द और चित् के रूप में यह प्रकट होती है। [जीव के ज्ञान में उपाधियाँ हैं, ईश्वर की ज्ञानशक्ति निरुपाधिक है, आनन्दस्वरूप है और चिद्रूप है। यह शुद्ध ज्ञानशक्ति है।]' ॥ ११ ॥

सोमानन्दनाथपादैरपि—

सदा शिवात्मना वेत्ति सदा वेत्ति मदात्मना । इत्यादि ।

ज्ञानाधिकारपरिसमाप्तावपि—

१२. तदैक्येन विना नास्ति संविदां लोकपद्धतिः ।
प्रकाशैक्यात्तदेकत्वं मातैकः स इति स्थितिः ॥

१३. स एव विमृशत्वेन नियतेन महेश्वरः ।
विमर्श एव देवस्य शुद्धे ज्ञानक्रिये यतः ॥ इति ।

पूज्यपाद श्री सोमानन्दनाथ ने भी कहा है—'[महेश्वर का दास अपनी आत्मा को] सदैव शिव के रूप में जानता है, वह उसे आत्मा अर्थात् शिव-शक्ति के रूप में जानता है ।' इत्यादि । (मत् = मैं, आत्मा) ।

इसके अतिरिक्त ग्रन्थ में जहाँ ज्ञान का अधिकार (अध्याय, topic) समाप्त हुआ है, वहाँ पर भी कहा गया है—'उस महेश्वर के साथ एकता स्थापित हुए बिना प्रकाश या ज्ञान (संवित्) का लौकिक व्यवहार नहीं हो सकता । सभी प्रकार के प्रकाशों में एकता होने के कारण महेश्वर-विषयक एकता को जानने वाला वह एक ही तत्त्व है—ऐसी वस्तुस्थिति है । [तात्पर्य यह है कि सूर्यादि के प्रकाश से बहुत सी चीजें प्रकाशित होती हैं, उनका ज्ञान हमें प्राप्त होता है । इस प्रकार सांसारिक ज्ञान की प्रणाली या पद्धति है । इस प्रकार के प्रकाशन और महेश्वर के प्रकाशन में एकता है—महेश्वर उसी प्रकार आभासित होता है, मोहवश हमें दिखलाई नहीं पड़ता । यह एकता तभी सिद्ध होगी जब हम उपाधिहीन प्रकाशों में भेद न मानें । यह एकमात्र प्रकाश ही सभी वस्तुओं का प्रमाता (ज्ञाता) है ।] वही (प्रकाश, ज्ञान) एक निश्चित विमर्श (ज्ञान-क्रिया शक्ति) के कारण महेश्वर कहलाता है क्योंकि देवदेव महेश्वर के विमर्श का अर्थ ही है शुद्ध (उपाधिहीन) ज्ञानशक्ति और क्रियाशक्ति का होना ।

विशेष—ईश्वर के प्रकाश से सम्पूर्ण जगत् प्रकाशित होता है : निरुपाधिक ज्ञानशक्ति और क्रियाशक्ति में ही संपूर्ण जगत् निहित है । ईश्वर के प्रकाशन और वस्तुओं का प्रकाशन प्रायः एक ही है । प्रायः इसलिए कि वस्तुओं में देश-काल आदि उपाधियाँ लगी हैं । इन के हट जाने पर तो अद्वयतत्त्व ही बच रहता है । यह ऐक्य या अद्वयतत्त्व ही महेश्वर है ।

(६. वस्तुओं का प्रकाशन—आभासवाद)

विवृतं चाभिनवगुप्ताचार्यैः । 'तमेव भान्तमनुभाति सर्वं, तस्य भासा सर्वमिदं विभाति' (काठक० २।२) इति श्रुत्या प्रकाशचिद्रूपमहिम्ना सर्वस्य भावजातस्य भासकत्वमभ्युपेयते । ततश्च विषयप्रकाशस्य नीलप्रकाशः पीतप्रकाश इति विषयोपराग-भेदाद्भेदः । वस्तुतस्तु देशकालाकारसंकोचवैकल्यादभेद एव । स एव चैतन्यरूपः प्रकाशः प्रमातेत्युच्यते ।

आचार्य अभिनवगुप्त ने व्याख्या भी की है। एक श्रुतिवाक्य है—'उस प्रकाशमान पुरुष के पीछे-पीछे सारी चीजें प्रकाशित होती हैं, उसी के प्रकाश से ये सारी चीजें प्रकाशित होती हैं।' (काठक०. २।२) [इस श्रुति का तात्पर्य है कि महेश्वर के प्रकाशित होने पर सूर्यादि का प्रकाश होता है। जैसे जाते हुए पुरुष के पीछे-पीछे चलने वाले पुरुष की गति स्वतंत्र नहीं होती, उसी प्रकार सूर्यादि का प्रकाश स्वतंत्र नहीं होता—उसी महेश्वर के अधीन इनका प्रकाश स्फुरित होता है।] इस श्रुति से सिद्ध होता है कि उस प्रकाशस्वरूप, चिद्रूप अर्थात् बुद्धिस्वरूप (महेश्वर) की महिमा से सारे पदार्थ (= प्रकाश देनेवाले, सूर्यचन्द्रादि) प्रकाशक कहलाते हैं। इसके बाद विषयों के प्रकाशन में नीला प्रकाश (= नीली वस्तु), पीला प्रकाश (वस्तु) इस प्रकार के भेद इसलिए होते हैं कि स्वयं विषयों (objects) में ही रंग (colour) का भेद है [और ये ही रंग प्रकाश पर पड़कर वस्तु को नीली, पीली बना कर प्रकाशित कराते हैं—वस्तुओं में भेद का यही कारण है।]

वास्तव में देश, काल और आकार की सीमा (संकोच) न होने के कारण तत्त्व तो एक ही है। वही चैतन्य (बुद्धि) के रूप में प्रकाश है जिसे हम प्रमाता या ज्ञाता भी कहते हैं। [ईश्वर प्रकाश है तथा चैतन्यरूप है। वही अपनी आत्मा के दर्पण पर प्रतिबिम्ब की तरह सभी वस्तुओं को प्रकाशित करता है। इसी सिद्धान्त को आभासवाद कहते हैं।]

तथा च पठितं शिवसूत्रेषु—'चैतन्यमात्मा' (१।१) इति। तस्य चिद्रूपत्वमनवच्छिन्नविमर्शत्वमनन्योन्मुखत्वमानन्दैकघनत्वं माहेश्वर्यमिति पर्यायः। स एव ह्ययं भावात्मा विमर्शः शुद्धे पारमार्थिक्यौ ज्ञानक्रिये। तत्र प्रकाशरूपता ज्ञानम्। स्वतो जगन्निर्मातृत्वं क्रिया।

जैसा कि शिवसूत्रों का आरंभ हुआ करता है—'चैतन्य ही आत्मा है' (शि० सू० १।१)। उसके बहुत से पर्याय भी हैं—चित् (Intelligence) के रूप में होना, विमर्श अर्थात् ज्ञान-क्रिया-शक्ति का अव्यवहित (उपाधिहीन) होना, दूसरे पर निर्भर न करना (= स्वतंत्रता), आनन्द के एकमात्र घन-पिण्ड के रूप में होना तथा सबसे अधिक ऐश्वर्य होना (महेश्वर होना)। [ये सभी ईश्वर के गुण के पर्यायवाची शब्द हैं।] इसी को भाव (धर्म, शक्ति) के रूप में विमर्श मानते हैं, जिसका अर्थ है विशुद्ध (उपाधिहीन) पारमार्थिक ज्ञान और क्रिया।

इनमें ज्ञान उसे कहते हैं जिसके द्वारा वस्तुओं का प्रकाशन हो। अपने आप से ही समूचे संसार का निर्माण करना क्रिया है। [ईश्वर के गुणों के पर्यायों में 'विमर्श' शब्द आया है। पूरा शब्द है—ईश्वर के विमर्श का अनवच्छिन्न होना। विमर्श अवच्छिन्न तभी होता है जब भ्रांतिवश हम विमर्श (ज्ञान और क्रिया) में देश, काल, आकार, वर्ण आदि अवच्छेदक या सीमित करनेवाली उपाधियाँ लगा दें। यदि इन उपाधियों का अभाव हो तो विमर्श अनवच्छिन्न अर्थात् अव्यवहित होता है। ईश्वर का विमर्श ऐसा ही होता है। अच्छा, यह बार-बार उच्चरित 'विमर्श' है क्या ? इसका अर्थ ज्ञान और क्रिया है। ईश्वर के पास शुद्ध विमर्श यानी शुद्ध ज्ञान और शुद्ध क्रिया है। अपने ज्ञान से वे सारी वस्तुओं का प्रकाशन करते हैं—सारी वस्तुएं उसी प्रकार सत्य हैं जिस प्रकार स्वयम् ईश्वर। सारी वस्तुएँ ईश्वर के आभास से आती हैं, अतः इस दर्शन को वस्तुवादी प्रत्ययवाद (Realistic Idealism) करते हैं। अब रही ईश्वर की क्रिया-शक्ति ! तो उससे सारे संसार का निर्माण ही होता है। शक्ति की व्याख्या आगे की जायगी।]

तच्च निरूपितं क्रियाधिकारे—

१४. एष चानन्तशक्तित्वादेवमाभासयत्यमून् ।
भावानिच्छावशादेषां क्रिया निर्मातृतास्य सा ॥ इति ।

उपसंहारेऽपि—

१५. इत्थं तथा घटपटाद्याकारजगदात्मना ।
तिष्ठासोरेवमिच्छैव हेतुकर्तृकृता क्रिया ॥ इति ।

इस दर्शन के क्रिया-परिच्छेद में उसका निरूपण भी हुआ है—'वह (महेश्वर) अपनी अपरिमित शक्ति होने के कारण उन भावों (पदार्थों) को प्रकाशित (आभासित) -करता है [—यह उसकी ज्ञानशक्ति है]। उसी प्रकार अपनी इच्छा से ही वह उक्त पदार्थों का निर्माण करता है जो उसकी क्रिया-शक्ति है ॥ १४ ॥'

उपसंहार करते हुए भी कहा गया है –'इस प्रकार घट, पट आदि आकारों (पदार्थों) से भरे हुए संसार के रूप में स्थिर रहने के इच्छुक, हेतुकर्ता (प्रयोजक कर्ता = महेश्वर) में उत्पन्न जो इच्छा है, वही क्रिया है ॥ १५ ॥'

विशेष—हेतु का अर्थ प्रयोजक-कर्ता है क्योंकि पाणिनि-मुनि कहते हैं—**तत्प्रयोजको हेतुश्च** (पा० सू० १।४।५५)। प्रेरणार्थक क्रिया का प्रयोग होने पर दो कर्ता होते हैं—प्रयोज्य और प्रयोजक। रामः पठति। अध्यापकः

रामं पाठयति। इन वाक्यों में 'अध्यापक' और 'राम' दोनों ही कर्ता हैं, अध्यापक प्रयोजक या हेतु कर्ता है जब कि राम प्रयोज्य कर्ता। उसी प्रकार इस स्थान में, 'भावा आभासन्ते, महेश्वरो भावानाभासयति' के साथ भी बात है—महेश्वर प्रयोजक कर्ता है। महेश्वर को इच्छा होती है—'एकोऽहं बहु स्यां प्रजायेय'। उसको यह इच्छा ही क्रिया कहलाती है।

(७. ईश्वर की इच्छा से संसारोत्पत्ति)

१६. तस्मिन्सतीदमस्तीति कार्यकारणताऽपि या।
साप्यपेक्षाविहीनानां जडानां नोपपद्यते॥

इति न्यायेन यतो जडस्य न कारणता न वाऽनीश्वरस्य चेतनस्यापि, तस्मात्तेन तेन जगद्गतजन्मस्थित्यादिभावविकार-तत्तद्भेदक्रियासहस्ररूपेण स्थातुमिच्छोः स्वतन्त्रस्य भगवतो महेश्वरस्येच्छैव उत्तरोत्तरमुच्छूनस्वभावा क्रिया विश्वकर्तृत्वं वोच्यत इति।

'एक वस्तु (बीज) के होने पर दूसरी वस्तु (अंकुर) की सत्ता होगी—इस प्रकार का जो कार्य-कारण संबंध है वह भी अपेक्षारहित जड़ (insentient) पदार्थों में नहीं रह सकता॥ १६॥'

उपर्युक्त नियम से यह सिद्ध होता है कि जड़ पदार्थ (परमाणु आदि) संसार के कारण नहीं हो सकते [क्योंकि इनमें अपेक्षा नहीं है, अपेक्षा किसी चेतन में ही रहती है]। दूसरी ओर, ईश्वर के अतिरिक्त कोई दूसरा चेतन (जैसे जीव) भी [संसार का कारण नहीं हो सकता क्योंकि उसमें संसार उत्पन्न करने की सामर्थ्य नहीं है। इसलिए घटादि का कारण होने पर भी जीव संसार को नहीं उत्पन्न कर सकते]। इसलिए संसार के जन्म, स्थिति आदि भाव-विकारों के रूप में तथा उनके भेदों के रूप में हजारों क्रियाओं के द्वारा भगवान् ठहरना चाहता है। उस स्वतंत्र महेश्वर भगवान् की इच्छा, जो क्रमशः बढ़ती ही जाती है, हो क्रिया है। दूसरे शब्दों में उसे विश्व का उत्पादन (रचना) भी कहते हैं।

विशेष—संसार की रचना ईश्वर की इच्छा से ही होती है। जब ईश्वर चाहता है कि अपनी क्रियाओं के रूप में अवस्थित रहूँ—एक होकर भी बहुत से रूपों में रहूँ, तब भाव के छह विकारों (जायते, अस्ति, वर्धते, विपरिणमते, अपक्षीयते, विनश्यति—देखें निरुक्त १।२) और उनके नाना प्रकार के भेदों

के रूप में संसार की रचना हो जाती है। वस्तुतः क्रिया तो एक ही है—ईश्वर की इच्छा, परन्तु उसके विकार इतने प्रकार के हो जाते हैं कि क्रियायें हजारों-हजार हो जाती हैं। महेश्वर की इच्छा उत्तरोत्तर बढ़ती जाती है (उच्छून-स्वभावा)—इसीसे विकास होता है जिसका अन्त विनाश में है। इस प्रकार संसार की रचना के लिए किसी उपादान की आवश्यकता नहीं। वह केवल ईश्वर की एक शक्ति— क्रिया अर्थात् इच्छा—से ही उत्पन्न हो जाता है। इसे इस दर्शन के आरंभ में भी कह चुके हैं। केवल इच्छा से संसार की रचना मानने के लिए सांसारिक बुद्धि प्रस्तुत नहीं होती। इसी के कारण त्रिक-दर्शन की पृष्ठभूमि में तान्त्रिक-मत है। तंत्र के प्रभाव से इच्छामात्र से क्षण भर में बहुत सी चीजें उत्पन्न हो जाती हैं। अभिनवगुप्त स्वयं भी एक बड़े तान्त्रिक थे। इसके बिना कोई लौकिक दृष्टान्त देना असंभव है।

इच्छामात्रेण जगन्निर्माणमित्यत्र दृष्टान्तोऽपि स्पष्टं निर्दिष्टः—

१७. योगिनामपि मृद्बीजे विनैवेच्छावशेन यत्।
घटादि जायते तत्तत्स्थिरभावक्रियाकरम् ॥ इति।

यदि घटादिकं प्रति मृदाद्येव परमार्थतः कारणं स्यात्तर्हि कथं योगीच्छामात्रेण घटादिजन्म स्यात्? अथोच्येत—अन्य एव मृद्बीजादिजन्या घटाङ्कुरादयो, योगीच्छाजन्यास्त्वन्य एवेति। तत्रापि बोध्यसे—सामग्रीभेदात्तावत्कार्यभेद इति सर्व-जनप्रसिद्धम्।

केवल इच्छा करने से ही संसार का निर्माण हो जाता है, इस विषय में लौकिक दृष्टान्त भी तो स्पष्टरूप से ही दिया गया है—'योगी लोग भी मिट्टी और बीज के बिना ही केवल इच्छा करके घट और अंकुर उत्पन्न कर देते हैं जो [इन्द्रजाल या आभासमात्र नहीं, प्रत्युत] लौकिक घट और अंकुर की तरह स्थिर तथा अपनी-अपनी आवश्यक क्रियाओं (जैसे जल लाना, पेड़ बनाना) के संपादन में भी समर्थ हैं—[ऐसा बहुधा सुना जाता है]॥ १७॥

अब यहाँ प्रश्न होता है कि वास्तव में (पारमार्थिक दृष्टि से) घटादि के कारण मृत्तिकादि ही होते हैं। यह कैसी बात है कि योगियों की इच्छा करने से ही घटादि पदार्थों का जन्म हो जाता है? यहाँ उत्तर यह होगा—जो घट और अंकुर मिट्टी और बीज से उत्पन्न होते हैं वे कुछ दूसरे ही हैं। [योगियों की इच्छा से उत्पन्न होने पर भी दूसरे घड़ों और अंकुरों का संबंध

मिट्टी-बीज से टूटता नहीं। उनका वास्तविक संबंध रहेगा ही।] इसमें भी आपको जानना चाहिए कि सामग्री के भेद से कार्य में भेद पड़ता ही है। यह तो समूचे संसार में प्रसिद्ध है। [जिन घटों का निर्माण मिट्टी से होता है उनमें भी तो सामग्री के भेदके कारण भेद दिखलाई पड़ना है। कम मिट्टी लगाने पर छोटा या पतला घड़ा बनता है, दूसरी मिट्टी का दूसरा ही घड़ा होता है इत्यादि। सामान्य रूप से घट मिट्टी से ही बनता है। विशेष स्थितियों में योगी लोग भी बनाते हैं और ऐसे घटों में पर्याप्त भेद रहता है।]

(८. उपादान कारण और पदार्थों की उत्पत्ति)

ये तु वर्णयन्ति नोपादानं विना घटाद्युत्पत्तिरिति, योगी स्वेच्छया परमाणून्व्यापारयन् संघटयतीति तेऽपि बोधनीयाः। यदि परिदृष्टकार्यकारणभावविपर्ययो न लभ्येत तर्हि घटे मृद्दण्डचक्रादि देहे स्त्रीपुरुषसंयोगादि सर्वमपेक्ष्येत। तथा च योगीच्छासमनन्तरसंजातघटदेहादिसंभवो दुःसमर्थ एव स्यात्।

जो लोग कहते हैं कि उपादान (material) कारण के बिना घट आदि की उत्पत्ति नहीं हो सकती और उधर योगी अपनी इच्छा से परमाणुओं का संचालन करके उनका नवीन संघटन (Organisation) करता है, ऐसे लोगों को भी यह जानना चाहिए कि यदि कार्य-कारण-संबन्ध (Causal relation) का सुस्पष्ट उल्लंघन (विपर्यय Violation) नहीं हो रहा हो (अर्थात् योगियों की इच्छा के बाद ही कार्य संपादित नहीं होकर विलम्ब से हो) तब तो कार्य के उत्पादन के लिए सभी कारणों के व्यापारों की अपेक्षा रहेगी ही; घट के लिए मिट्टी, डंडा, चाक आदि की आवश्यकता होगी, शरीर-निर्माण के लिए स्त्री-पुरुष के संयोग आदि की आवश्यकता होगी। ऐसा करने पर योगी की इच्छा के तुरत बाद में उत्पन्न होने वाले घट, देहादि की संभावना करना बिल्कुल असंगत ही हो जायगा।

विशेष—इस संदर्भ में उन मतवादियों का उल्लेख किया गया है जो योगियों के कार्य में भी सामान्य-नियम के समान कार्य-कारण-संबंध ढूँढ़ने का प्रयत्न करते हैं। वे बिना उपादान के कार्योत्पत्ति मानते ही नहीं। यदि योगियों की क्रियाओं में कार्य-कारण संबंध नहीं मिला, तो कार्योत्पत्ति को ये असंगत (baseless) सिद्ध कर देंगे। योगी जो अपनी इच्छा से कार्य उत्पन्न किया करते हैं उनमें भी परमाणुओं का संघटन होता ही होगा। किसी

निर्धन व्यक्ति को योगी आशीर्वाद देकर धनाढ्य बना दें तथा वह व्यक्ति घर आकर देखे कि उसके यहाँ मिट्टी के स्थान पर सोने की दीवाल है तो इस इच्छात्मक आशीर्वाद में भी स्वर्ण के परमाणुओं की क्रिया हुई होगी--किसी भी अवस्था में कार्य लिए कारणसामग्री अपेक्षित ही है, वह चाहे सामान्य कार्य हो या योगी की इच्छा से उत्पन्न कार्य हो।

अब योगियों की इच्छा से उत्पन्न कार्य के भी दो भेद संभव हैं--एक तो वह जब योगियों की इच्छा (आशीर्वाद) के बाद ही कार्य हो जाय और दूसरा वह जब इच्छा के बहुत देर के बाद कार्य उत्पन्न हो। पहली स्थिति में तो कार्य-कारण का संबंध स्थिर करना बड़ा ही कठिन है क्योंकि बेचारे परमाणुओं को संघटित होने का समय कहाँ मिलता है कि उपादान बनकर कार्य उत्पन्न करें। हाँ, दूसरी स्थिति में कल्पना कर सकते हैं कि योगियों की इच्छा के बाद परमाणुओं को संघटित होने का पर्याप्त अवसर मिलता है जिससे वे कार्य उत्पन्न करते हैं। योगी लोग दोनों तरह के कार्य उत्पन्न करते देखे जाते हैं। किसी को देखते ही रोगमुक्त कर देते हैं तथा यथासमय पुत्र होने का भी आशीर्वाद देते हैं। शीघ्र कार्य करने वाले योगियों की इच्छा से कार्य उत्पन्न होने पर कार्य-कारण-भाव की रक्षा तो किसी भी मूल्य पर नहीं हो सकती। देर से होने वाले कार्य में भी अलक्षित परमाणु-व्यापार की कल्पना व्यर्थ ही है। किसी भी स्थिति में योगियों के कार्य में कार्य-कारण-भाव का बड़ा भारी अपमान होता है जो न्यायशास्त्र की दृष्टि से बहुत बड़ा अपराध है। यही उन मतवादियों का कथन है।

अब प्रत्यभिज्ञा-दर्शन वाले अपने पक्ष की रक्षा करते हुए, भगवान् की दुहाई देते हुए तथा उनके समक्ष कार्य-कारण-भाव की असंगति को गौण बतलाते हुए उत्तर देंगे।

चेतन एव तु तथा भाति, भगवान् भूरिभगो महादेवो नियत्यनुवर्तनोल्लङ्घनघनतरस्वातन्त्र्य इति पक्षे न काचिदनुपपत्तिः। अत एवोक्तं वसुगुप्ताचार्यैः—

१८. निरुपादानसंभारमभित्तावेव तन्वते।
जगच्चित्रं नमस्तस्मै कलानाथाय शूलिने॥ इति।

उपर्युक्त असंगति सामान्य चेतन पदार्थों के साथ ही हो सकती है [अर्थात् योगियों के कार्य में आप भले ही असंगति दिखा दें] किन्तु विपुल ऐश्वर्य वाले भगवान् महादेव तो नियति (Nature) का अनुवर्तन या उल्लंघन करने

में बिल्कुल स्वतंत्र हैं, उनके पक्ष में कार्यकारणभाव के विषय में कोई भी असंगति (Difficulty, Impropriety) नहीं होती। [ब्रह्मा नियति या अदृष्ट या सांसारिक नियमों का केवल अनुवर्तन कर सकते हैं, उल्लंघन नहीं। पर ईश्वर के लिए नियति का खंडन बायें हाथ का खेल है—अपनी लीला से ही वे नियति (जैसे—कार्यकारणभाव) को काट सकते हैं। बड़े लोगों के लिए कोई अनुचित कार्य नहीं।]

इसीलिए आचार्य वसुगुप्त ने कहा है—'जो बिना किसी भित्ति (आधार) के [शून्य प्रदेश में] बिना उपकरणों के समूह का सहारा लिए, इस विचित्र संसार की रचना करता है कलाओं के उस स्वामी शूलधारी भगवान् शिव को मैं प्रणाम करता हूँ।'

विशेष—इस मंगल-श्लोक में यह प्रदर्शित है कि महेश्वर को संसार की रचना करने में न किसी आधार की आवश्यकता पड़ती है और न किसी सामग्री की ही। उसकी इच्छा ही क्रिया है, विश्व की रचना है।

(९. विभिन्न प्रश्न—जीव और संसार का संबंध)

ननु प्रत्यगात्मनः परमेश्वराभिन्नत्वे संसारसंबन्धः कथं भवेदिति चेत्—तत्रोक्तमागमाधिकारे—

१९. एष प्रमाता मायान्धः संसारी कर्मबन्धनः।
विद्यादिज्ञापितैश्वर्यश्चिद्घनो मुक्त उच्यते ॥ इति।

अब प्रश्न है कि जब प्रत्यगात्मा (जीव Individual self) को परमेश्वर से अभिन्न ही मानते हैं तो जीव का संबन्ध संसार से कैसे होगा? इसका उत्तर उसी दर्शन में आगमों का वर्णन करनेवाले परिच्छेद में हुआ है—'यह प्रमाता (ज्ञाता जीव) माया से अंधा होकर (ईश्वर के स्वरूप के विषय में ज्ञान न रहने के कारण) कर्म के बन्धन में पड़ा हुआ संसार में ही रहता है। विद्या (प्रत्यभिज्ञा) आदि के द्वारा जब उसे ऐश्वर्य (ईश्वर के स्वरूप) का ज्ञान प्राप्त कराया जाता है [कि वह ईश्वर ही है] तब चित् की मूर्ति बनकर [दृक्-शक्ति और क्रियाशक्ति से युक्त होकर] वह मुक्त कहलाता है ॥ १९ ॥' [यही जीव और संसार का संबन्ध है कि मुक्ति के पूर्व तक जीव इस संसार में ही विचरण करता रहता है।]

(९. क. प्रमेय को लेकर बद्ध और मुक्त में भेद)

ननु प्रमेयस्य प्रमात्रभिन्नत्वे बद्धमुक्तयोः प्रमेयं प्रति को विशेषः ? अत्राप्युत्तरमुक्तं तत्त्वार्थसंग्रहाधिकारे—

२०. मेयं साधारणं मुक्तः स्वात्माभेदेन मन्यते ।
महेश्वरो यथा बद्धः पुनरत्यन्तभेदवत् ॥ इति ।

दूसरा प्रश्न है कि प्रमेय (Knowable) पदार्थ प्रमाता (Knower) से अभिन्न होता है तब प्रमेय को लेकर बद्ध और मुक्त जीवों में क्या अन्तर होगा ? [इस प्रश्न का यह आशय है—प्रत्यभिज्ञा-दर्शन की यह मान्यता स्पष्ट है कि ईश्वर अपनी 'बहु स्याम्' की इच्छा से संपूर्ण जगत् के रूप में स्वयं ही आविर्भूत होता है। इस प्रकार जीव तो परमेश्वर से अभिन्न हैं ही, पृथ्वी आदि प्रमेय पदार्थ भी ईश्वर से अभिन्न ही हैं। किसी में कोई भेद-भाव नहीं। परिणाम यह होगा कि प्रमेय (पृथ्वी आदि पदार्थ) और प्रमाता (जीव) में भी एकता या अभिन्नता हो जायगी। जीव के दोनों भेद (बद्ध और मुक्त) एक ही प्रकार से प्रमेय का प्रयोग करेंगे। बद्ध और मुक्त जीवों में फिर अन्तर ही क्या रहा ?]

इसका भी तत्त्वार्थों का संग्रह (संकलन) करनेवाले परिच्छेद में दिया गया है—'मुक्त जीव महेश्वर के समान ही सभी प्रमेय पदार्थों (अच्छा-बुरा, सुन्दर-कुरूप, अमृत-विष) को अपनी आत्मा से अभिन्न समझते हुए समान-रूप से देखता है (अर्थात् विषयों में वह भेद-भाव नहीं करता है)। दूसरी ओर, बद्ध जीव [अभेद का ज्ञान न होने के कारण] प्रमेय पदार्थों में कई प्रकार के भेद देखता है (अमृत और विष को एक दृष्टि से नहीं देखता है) ॥ २० ॥'

(१०. प्रत्यभिज्ञा की आवश्यकता—अर्थक्रिया में भेद)

ननु आत्मनः परमेश्वरत्वं स्वाभाविकं चेन्नार्थः प्रत्यभिज्ञाप्रार्थनया। न हि बीजमप्रतिज्ञातं सति सहकारिसाकल्येऽङ्कुरं नोत्पादयति। तस्मात्कस्माद्वात्मप्रत्यभिज्ञाने निर्बन्ध इति चेत्–

उच्यते। शृणु तावदिदं रहस्यम्। द्विविधा ह्यर्थक्रिया—बाह्याङ्कुरादिका, प्रमातृविश्रान्तिचमत्कारसारा प्रीत्यादिरूपा च। तत्राद्या प्रत्यभिज्ञानं नापेक्षते। द्वितीया तु तदपेक्षत एव।

यहाँ यह प्रश्न हो सकता है कि परमेश्वर हो जाना यदि आत्मा का स्वाभाविक गुण ही है तो प्रत्यभिज्ञा की प्रार्थना करना तो निरर्थक ही न है ? यदि सारी सहकारी सामग्रियाँ तैयार हों और बीज का प्रत्यक्षीकरण नहीं भी हुआ हो (गुप्त रूप से बीज छोट दिया गया हो) तो क्या अङ्कुर उत्पन्न नहीं होता ? [बीज ज्ञात रहे या अज्ञात, अन्य सामग्रियाँ (खेत, पानी, हवा, धूप आदि) तैयार रहें तो वह अवश्य अङ्कुरित होगा। उसी प्रकार, 'मैं ईश्वर हूँ' यह बात जीव को मालूम रहे या नहीं, यदि वह सचमुच ईश्वर का स्वरूप है, जैसा कि आप स्वीकार करते हैं, तो सदा ही मुक्त रहेगा।] तो, किस लिए आप लोग आत्मा की प्रत्यभिज्ञा (साक्षात्कार) के लिए आग्रह (निर्बन्ध) कर रहे हैं ? [इस प्रकार प्रत्यभिज्ञा की आवश्यकता ही नहीं]।

इस शंका का समाधान हम करते हैं। पहले सुनो, रहस्य यह है। अर्थक्रिया (फल देने वाली क्रिया)* दो प्रकार की होती है—एक तो बाह्य (External) जिसमें अङ्कुर आदि आते हैं, दूसरी [आन्तरिक (Internal)] जिससे ज्ञाता को विश्राम मिल जाने के कारण अपूर्व आनन्द मिलता है तथा जो प्रीति, सन्तोष आदि के रूप में प्रकट होती है। [जब बीज अंकुर उत्पन्न करता है तब भी एक अर्थक्रिया (सफल कार्य) होती है किन्तु यह बाह्य जगत् से बँधी होने के कारण बाह्य अर्थक्रिया है। जब पुत्रजन्म का समाचार सुनने पर आनन्द उत्पन्न होता है तब आभ्यन्तर अर्थक्रिया होती है—यह क्रिया सफल हुई किन्तु अन्तर्जगत् में। ज्ञाता जीव जब बाहरी-भीतरी कामों से छुट्टी पा लेता है तब इससे उत्पन्न चमत्कार या आनन्द आन्तरिक क्रिया का सबसे अच्छा उदाहरण है।]

उनमें पहली अर्थक्रिया को तो प्रत्यभिज्ञा (साक्षात्कार, ज्ञान) की आवश्यकता नहीं किन्तु दूसरी (आन्तरिक) अर्थक्रिया को तो ज्ञान की अनिवार्य आवश्यकता है। [पूर्वपक्षियों ने जो बीज और अंकुर को शिखण्डी बना कर खड़ा किया है वह वास्तव में बाह्य अर्थक्रिया का उदाहरण है। बीज ज्ञात रहे या अज्ञात, उसका फल मिल ही जायगा, 'अंकुर उत्पन्न हो जायगा' ?। डॉक्टर के यहाँ ली गई दवा ज्ञात रहे या अज्ञात, उसकी अर्थक्रिया (रोगनिवृत्ति) होकर रहेगी। आप जानकर विष खायें या अनजाने, इसका फल मिलकर रहेगा। निष्कर्ष यह है कि बाह्य अर्थक्रिया को प्रत्यभिज्ञा की आवश्यकता नहीं है। रहे तो, नहीं रहे तो—दोनों स्थितियों में फल मिलेगा। किन्तु, पुत्रजन्म की बात, सुनने पर ही, कार्य में लगे हुए मन को भी तुरत विरत करके कुछ देर तक आनन्द नहीं

* देखें सर्वदर्शनसंग्रह में बौद्ध-दर्शन, क्षणिकवाद का प्रसंग, पृ० ३८–५६।

मिल सकता। इस प्रकार, यह सिद्ध हुआ कि आन्तरिक अर्थक्रिया उत्पादक का प्रत्यभिज्ञान (Knowledge) होने पर ही उत्पन्न होती है। आत्मा का साक्षात्कार भी आन्तरिक अर्थक्रिया ही है जिसमें ज्ञान होने पर ही फल मिल सकता है। यही आगे सिद्ध किया जायगा।]

इहाप्यहमीश्वर इत्येवंभूतचमत्कारसारा परापरसिद्धिलक्षण-जीवात्मैकत्वशक्तिविभूतिरूपार्थक्रियेति स्वरूपप्रत्यभिज्ञानमपेक्षणीयम्।

ननु प्रमातृविश्रान्तिसाराऽर्थक्रिया प्रत्यभिज्ञानेन विना अदृष्टा सती तस्मिन्दृष्टेति क्व दृष्टम्? अत्रोच्यते—नायकगुण-गणसंश्रवणप्रवृद्धानुरागा काचन कामिनी मदनविह्वला विरह-क्लेशमसहमाना मदनलेखावलम्बनेन स्वावस्थानिवेदनानि विधत्ते। तथा वेगात्तन्निकटमटन्त्यपि तस्मिन्नवलोकितेऽपि तदव-लोकनं तदीयगुणपरामर्शाभावे जनसाधारणत्वं प्राप्ते हृदयङ्गम-भावं न लभते। यदा तु दूतीवचनात् तदीयगुणपरामर्शं करोति तदा तत्क्षणमेव पूर्णभावमभ्येति।

यहाँ भी (प्रत्यभिज्ञा-दर्शन में), 'मैं ईश्वर हूँ' इस प्रकार के आनन्द से परिपूर्ण, परसिद्धि (मोक्ष) और अपरसिद्धि (अभ्युदय) के लक्षण से युक्त, जीवात्मा के साथ [महेश्वर की] एकतारूपी शक्ति (ज्ञानशक्ति, क्रियाशक्ति) की विभूति (आनन्द) के रूप में अर्थक्रिया प्राप्त होती है (अर्थात् यह अर्थक्रिया भी आन्तरिक ही है), इसलिए आत्मा को अपने स्वरूप का साक्षात्कार करना आवश्यक है। [यही कारण है कि प्रत्यभिज्ञा-दर्शन के द्वारा आत्मा को एकत्व ज्ञान कराया जाता है।]

अब यह प्रश्न है कि वह अर्थ क्रिया जो प्रमाता को विश्राम प्रदान करके आनन्द देने वाली है, वह प्रत्यभिज्ञान (साक्षात्कार Knowledge) के बिना तो अदृष्ट ही रहेगी, प्रत्यभिज्ञान हो जाने पर उसे देख लेते हैं—ऐसा कहीं किसी ने देखा है क्या? (यह कैसे जानते हैं?)

इसका यह उत्तर होगा। कोई कामिनी किसी नायक के गुण-समूह को केवल सुनकर उससे प्रेम करने लगती है, वह मदनाग्नि से पीड़ित होकर विरह-वेदना को सहने में असमर्थ हो जाती है। किसी प्रकार मदन-लेख (प्रेम-पत्र

Love-letter) भेज कर अपनी अवस्था का निवेदन उस नायक से करती है। यही नहीं, झटपट वह उसके पास दौड़ भी जाती है और उसे देखने लगती है। किन्तु, उसके गुणों के परामर्श (प्रत्यभिज्ञा Recognition) के अभाव में वह स्त्री उस नायक को साधारण आदमी की तरह ही देखती है। फल यह होता है कि उसके हृदय को वह ठीक नहीं लगता (वह आनन्द या संतोष नहीं पाती)। लेकिन जब कोई दूती आकर उसे अपने वाक्यों के द्वारा नायक के गुणों की पहचान करा देती है तब तो वह नायिका तुरत ही पूर्णरूप से प्रेम करने लगती है। [इस दृष्टान्त में यह दिखाया गया कि बिना पहचान कराये कोई किसी में रुचि नहीं ले सकता। इसी दृष्टान्त से यह स्पष्ट होता है कि प्रत्यभिज्ञा-शास्त्र के द्वारा ही कोई ईश्वर को पहचान सकता है।]

एवं स्वात्मनि विश्वेश्वरात्मना भासमानेऽपि तन्निर्भासनं तदीयगुणपरामर्शविरहसमये पूर्णभावं न संपादयति। यदा तु गुरुवचनादिना सर्वज्ञत्वसर्वकर्तृत्वादिलक्षणपरमेश्वरोत्कर्षपरामर्शो जायते तदा तत्क्षणमेव पूर्णात्मतालाभः।

उसी तरह यद्यपि अपनी आत्मा में विश्वेश्वर की आत्मा (स्वरूप) का आभास होता है, किन्तु यह आभास भी ईश्वर के गुणों की पहचान नहीं होने की स्थिति में पूर्णभाव (पूरा संतोष, पूर्णत्व) नहीं दे सकता। लेकिन जब गुरु के वचन आदि से सब कुछ जानने वाले, सब कुछ उत्पन्न करने वाले तथा अन्य गुणों से युक्त परमेश्वर के उत्कृष्ट गुणों की प्रत्यभिज्ञा होती है उसी समय पूर्णत्व की प्राप्ति हो जाती है।

विशेष—प्रत्यभिज्ञा-दर्शन की निरर्थकता का खण्डन हो रहा है। यद्यपि आत्मा में ईश्वर का स्वरूप निसर्गतः आभासित होता है तथापि उसकी पहचान कराने के लिए कोई माध्यम (Mediator) तो हो। गुरु की बातों से प्रत्यभिज्ञा-दर्शन का अध्ययन करके परमेश्वर को पहचान लें तभी आत्मसाक्षात्कार या मोक्ष हो सकता है। इसलिए प्रत्यभिज्ञा-दर्शन की आवश्यकता रहेगी ही। इसके बिना मूलतः और परमात्मा एक होने पर भी एक-से नहीं लगेंगे।

(११. उपसंहार)

तदुक्तं चतुर्थे विमर्शे—

२१. तैस्तैरप्युपयाचितैरुपनतस्तस्याः स्थितोऽप्यन्तिके
कान्तो लोकसमान एवमपरिज्ञातो न रन्तुं यथा।

लोकस्यैष तथानवेक्षितगुणः स्वात्मापि विश्वेश्वरो
नैवायं निजवैभवाय तदियं तत्प्रत्यभिज्ञोदिता ॥
(ई० प्र० ४।२।२) इति ।

अभिनवगुप्तादिभिराचार्यैर्विहितप्रतानोऽप्ययमर्थः संग्रहमुपक्रममाणैरस्माभिर्विस्तरभिया न प्रतानित इति सर्वं शिवम् ॥

इति श्रीमत्सायणमाधवीये सर्वदर्शनसंग्रहे प्रत्यभिज्ञादर्शनम् ॥

जैसा कि चतुर्थ विमर्श में कहा है—'विभिन्न प्रकार की प्रार्थनाओं के कारण [जो नायक नायिका के] पास आ गया है, उसके पास ही खड़ा भी है किन्तु बिना पहचाने हुए वह (नायिका) अपने प्रिय नायक को दूसरे लोगों के समान ही साधारण व्यक्ति समझ लेती है तथा उसके साथ रमण नहीं करती। उसी प्रकार इस संसार में लोगों की आत्मा में यदि विश्वेश्वर (महेश्वर) के गुणों को जाना नहीं जा सका तो यह (महेश्वर) अपने पूर्ण वैभव (ऐश्वर्य) को नहीं पा सकता। यही कारण है कि इस प्रत्यभिज्ञा-दर्शन की व्याख्या की जाती है। (ईश्वरप्रत्यभिज्ञाविमर्श ४।२।२)।

अभिनवगुप्त तथा दूसरे आचार्यों ने इस दर्शन का विस्तारपूर्वक वर्णन किया है किन्तु हम तो यहाँ केवल संकलन (सारांश Summary) कर रहे हैं इसलिए विस्तार के भय से ग्रन्थ को आगे नहीं बढ़ा रहे हैं। इस प्रकार सब कुछ शिव (कल्याणकारी) हो।

इस प्रकार श्रीमान् सायण-माधव के सर्वदर्शनसंग्रह में प्रत्यभिज्ञा-दर्शन [समाप्त हुआ]

इति बालकविनोमाशङ्करेण रचितायां सर्वदर्शनसंग्रहस्य प्रकाशाख्यायां व्याख्यायां प्रत्यभिज्ञादर्शनमवसितम् ॥